पं० हीरालाल जैन
सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

गुणस्थान

अनादि काल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय में प्रवृत्ति करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता चला आ रहा है, यद्यपि अपने इस परिभ्रमण-काल में जीव ने चौरासी लाख योनियों के अनन्त उतार-चढ़ाव देखे हैं, पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य और देवों के दिव्य सुखों को भी भोगा है और पाप का संचय कर नाटकों और पशु-पक्षियों के महान् दुःखों का भी अनुभव किया है, तथापि आज तक अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार या यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकने से भव-बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये प्रयत्न करने पर भी वह सफल नहीं हो सका है. आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकने के कारण इस जीव की दृष्टि अनादि से ही विपरीत हो रही है और उसी के कारण आत्मा से भिन्न परपदार्थों को यह अपना मानकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये अहर्निश प्रयत्न करता रहता है और इच्छानुसार उनके प्राप्त नहीं हो सकने से आकुल-व्याकुल रहता है. जीव की इस विपरीत दृष्टि के कारण ही जैन शास्त्रकारों ने उसे मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहा है.

बहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोड़कर किस प्रकार अन्तरात्मा या यथार्थ दृष्टिवाला समयग्दृष्टि बनता है और किस प्रकार आगे आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके इस क्रमिक विकास के सोपानों का नाम ही गुण-स्थान है. बहिरात्मा ने परमात्मा बनने के लिये आत्मिक गुणों की उत्तरोत्तर प्राप्ति करते हुए इस जीव को जिन-जिन स्थानों से गुजरना पड़ता है उन्हें ही जैन-शास्त्रों में 'गुणस्थान' कहा है. गुणस्थानों के चौदह भेद हैं, जो इस प्रकार हैं :

१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४ अविरत-सम्यग्दृष्टि, ५ देशसंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरण संयत, ६ अनिवृत्तिकरण संयत, १० सूक्ष्मसाम्पराय संयत, ११ उपाशान्त कषाय संयत, १२ वीतरागछद्मस्थ संयत, १३ सयोगिकेवली गुणस्थान और १४ अयोगिकेवली गुणस्थान.

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान : जब तक जीव को आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता तब तक वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है. संसार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका में रह रहे हैं. ये मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के मरण को ही आत्मा का मरण मानते हैं. शरीर की सुरूपता-कुरूपता और सबलता-निर्बलता को ही अपना स्वरूप मानते हैं. पुण्य-पाप के उदय से होने वाली इन्द्रियजनित सुख-दुख की परिणति को ही आत्मस्वरूप मानते हैं और इसी कारण इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग के होने पर वे असीम दुःखों का अनुभव करते रहते हैं.

जब किसी सुगुरु के निमित्त से इस मिथ्यादृष्टि जीवको आत्म-स्वरूपका उपदेश प्राप्त होता है, तब इसकी कषाय मंद होती है, आत्म-परिणामों में विशुद्धि बढ़ती है और यह आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उद्यत होता है. आत्म-परिणामों की विशुद्धि के कारण इसके अनादि काल से लगे हुए कर्मों का उदय भी मन्द होता है, नवीन कर्मों का बन्ध भी बहुत हलका हो जाता है और राग-द्वेष की परिणति भी धीमी पड़ती है. ऐसे समय में ही यह जीव करण-लब्धि के द्वारा अपने अनादिकालीन मिथ्यात्वरूप महामोह का अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप तीव्र कषायों का उपशमन करके सच्ची आत्म-दृष्टि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है. इस अवस्था को ही शास्त्रीय भाषा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान की प्राप्ति कहते हैं. मिथ्यादृष्टि जीव आत्मसाक्षात्कार के होते ही प्रथम गुणस्थान से एक दम ऊँचा उठकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन जाता है.

मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल से अभी तक एक मिथ्यात्व के रूप में ही चला आ रहा था. किन्तु कणलब्धि के प्रताप से उसके तीन खण्ड हो जाते हैं, जिन्हें शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं. जीव को प्रथम बार जो सम्यग्दर्शन होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं. इसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है. इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरता है. उस काल में यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जावे, तो वह तीसरे गुणस्थान में पहुँचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि किसी कषाय का उदय आजावे, तो दूसरे गुणस्थान में पहुँचता है. तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म का उदय आता है और यह जीव पुनः मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान में आ जाता है. इस सब के कहने का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल में नहीं होते, किन्तु पतनकाल में ही होते हैं.

(२) **सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान :** जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व-दशा से पतित होते समय होती है. सासादन का अर्थ सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना है. सम्यग्दर्शन के विराधक जीव को सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं. इसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं. जैसे कोई जीव मीठी खीर को खावे और तत्काल ही यदि उसे वमन हो जाय, तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है. इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है, तो उस वमन काल में भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है किन्तु जैसे किसी ऊंचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति का आकाश में अधर रहना अधिक काल तक सम्भव नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए यह जीव दूसरे गुणस्थान में एक समय से लगाकर ६ आवली काल तक अधिक से अधिक रहता है. तत्पश्चात् नियम से मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और जीव पहले गुणस्थान में जा पहुँचता है. काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक आवली होती है. यह छह आवलीप्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है.

(३) **सम्यग्मिथ्यादृष्टि :** चौथे गुणस्थान की असंयत सम्यग्दृष्टि दशा में रहते हुए जीव के जब मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आता है, तो यह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में आ जाता है. सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते हैं और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही होते हैं. किन्तु उभयात्मक (मिश्ररूप) होते हैं. जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूप खट्टा ही अनुभव में आता है और न चीनी रूप मीठा ही. किन्तु दोनों का मिला हुआ खट-मिट्ठारूप एक तीसरी ही जाति का स्वाद आता है. इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो यथार्थ रूप ही रहते हैं और न अयथार्थरूप ही. किन्तु यथार्थ-अयथार्थ के सम्मिश्रित परिणाम होते हैं. इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त ही है. मुहूर्त का मतलब दो घड़ी या ४८मिनट है. उसमें एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. एक समय अधिक आवली काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. आगे एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होने तक मध्यवर्ती काल को मध्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. इस मध्यम अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं. सो इस तीसरे गुणस्थान का काल यथासंभव मध्यम अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए. इतना विशेष है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जावे तो तुरन्त चढ़कर चौथे गुणस्थान में पहुँच सकता है, अन्यथा नीचे के गुणस्थानों में उसका पतन निश्चत ही है.

(४) **असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान :** जैसा कि पहले बतलाया गया है, जीव को यथार्थदृष्टि प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है. यह यथार्थ दृष्टि—जिसे कि सम्यग्दर्शन कहते हैं—तीन प्रकार की होती है—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक. दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतियाँ, इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है. जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है, अतः उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है फिर और मिथ्यादृष्टि बन जाता है. पुनः यह जीव ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है और बतलाई हुई सातों प्रकृतियों का क्षयोपशम करके क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है. इस सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त से लगाकर ६६ सागर तक है. अर्थात् किसी जीव को यदि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन लगातार बना रहे—तो उसके देव और मनुष्यभव में परिभ्रमण करते हुए लगातार ६६ सागर तक बना रह सकता है. जब जिस जीव का संसार बिल्कुल ही कम रह जाता है, तब वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव, उक्त सातों ही प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है. यह जीव संसार में अधिक से अधिक तीन भव तक रहता है. उसके पश्चात् चौथे भव में नियम से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है.

इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहिरी क्रियाओं में और मिथ्यादृष्टि की बाहिरी क्रियाओं में कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, पर अन्तरंग की परिणति में आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है. जहाँ मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलीन और आर्त्तरौद्रध्यान-प्रचुर होती है, वहाँ सम्यग्दृष्टि की परिणति एकदम प्रशस्थ, विशुद्ध और धर्मध्यानमय हो जाती है. चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय होने से यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला जीव व्रत-शील-संयमादि का रंच मात्र भी पालन नहीं करता है, इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रहती है तथापि मिथ्यादृष्टि दशा में जो इन्द्रियों के विषय-सेवन में उसकी तीव्र आसक्ति थी, वह एकदम घट जाती है. वह अनासक्त रहता हुआ ही इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है, अन्यायपूर्वक आजीविका का परित्याग कर देता है और न्याय-नीति से ही धनादिक का उपार्जन करके अपना और अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करता है. जैसे जल में रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार यह असंयत सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है—और इन्द्रियभोगों को भोगते हुए भी उनमें अनासक्त रहता है.

(५) देशसंयत गुणस्थान : चौथे गुणस्थान में रहते हुए जीव आत्मविकास की ओर अग्रसर होता है, तब उसे ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मैं जिन भोगों को भोग रहा हूं ये भी कर्मबन्धन के कारण हैं, विनश्वर हैं और अन्त में दुःखों को ही देने वाले हैं, तब वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचों पापों का स्थूल त्याग करता है अर्थात् अब मैं किसी भी त्रसप्राणी का संकल्पपूर्वक घात नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अहिंसाणुव्रत को अंगीकार करता है. आज से मैं राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध असत्य नहीं बोलूंगा, इस प्रकार से स्थूल झूठ का परित्याग करके सत्याणुव्रत को स्वीकार करता है. अब मैं बिना दिये किसी की वस्तु को नहीं लूंगा. मैं दायाद (भागीदार) का हक नहीं छीनूंगा, राज्य के टैक्सों की चोरी नहीं करूंगा, इस प्रकार से स्थूल चोरी का त्याग करके अचौर्याणुव्रत का पालन करता है. अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त संसार की स्त्रीमात्र को अपनी मां, बहिन और बेटी के समान समझ कर उन पर बुरे भाव से दृष्टिपात नहीं करूंगा, इस प्रकार स्थूल कुशील का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत को अंगीकार करता है. और अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के संग्रह का परित्याग कर परिग्रहपरिमाणाणुव्रत को स्वीकार करता है. तथा इन ही पाँचों अणुव्रतों की रक्षा और वृद्धि के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलव्रतों को भी धारण करता है. इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के उक्त १२ व्रतों का पालन करते हुए आदर्श गृहस्थजीवन बिताता है. मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि जीव के परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है और अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस देशसंयत जीव के परिणामों की विशुद्धि और भी अनन्तगुणी होती है. इस गुणस्थान वाला संसार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता जाता है और श्रावक के प्रतिमारूप में जो ग्यारह दर्जे शास्त्रों में बतलाये गये हैं, उनको अंगीकार करता हुआ अपने आत्मिक गुणों का विकास करता रहता है. अन्त में सर्व आरम्भ का त्यागकर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर अपनी स्त्री का भी परित्याग कर, तथा घर-बार को भी छोड़ कर या तो साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या जीवन को अल्प समझकर सल्लेखना को धारण कर समाधिमरणपूर्वक अपने शरीर का परित्याग करता है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainlibrary.org

इस गुणस्थान का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक आठ वर्ष और एक अन्तर्मुहूर्त से कम एक पूर्व कोटी वर्ष है जो कि कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु वाले के ही सम्भव है.

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान :** गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि मैं कितनी ही सावधानी क्यों न रखूं, कुटुम्ब आदि के निमित्त से या धनोपार्जनादि के कारण मेरी आत्मिक शान्ति में बाधा पड़ती ही है, तब वह अपने परिवार से भी नाता तोड़ कर और घर-बार का भी परित्याग कर साधु बनने के लिये तैयार होता है. ऐसी दशा में वह हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा परित्याग कर आजीवन के लिये अहिंसादि पंच महाव्रतों को अंगीकार करता है, घर में रहना छोड़कर साधुजनों के साथ निवास करता है और भिक्षावृत्ति से निरुद्दिष्ट आहार लेता हुआ अपने संयम की साधना में संलग्न हो जाता है. यद्यपि यह संयम का पालन करता है, अतः संयत है. तथापि इसके जब तक प्रमाद का सद्भाव बना रहता है तब तक उसे प्रमत्तसंयत करते हैं. इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है. इसलिए साधु के सदा-प्रमत्तदशा नहीं रहती है, किन्तु थोड़ी देर में वह सावधान होकर आत्मचिन्तन करता रहता है. जब वह आत्म-चिन्तन करता है, तब उसके अप्रमत्तदशा आ जाती है. इस प्रकार वह सदा प्रमत्तदशा से अप्रमत्तदशा में और अप्रमत्तदशा से प्रमत्तदशा में आता जाता रहता है.

संज्वलन कषाय और नव नोकषायों का उदय होने पर महाव्रतों के परिपालन में किन्हीं कारणों से जो अनुत्साह होता है उसे प्रमाद कहते हैं. प्रमाद के १५ भेद परमागम में बतलाये हैं—चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) चार विकथाएँ (स्त्रीकथा, राजकथा, आहारकथा और देशकथा) पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव, प्रणय (स्नेह) और निद्रा. साधु सदा आत्म-चिन्तन में निरत नहीं रह सकता है, अतः उसकी प्रवृत्ति इन १५ प्रमादों में से किसी न किसी प्रमाद की ओर घड़ी-आध घड़ी के लिये होती रहती है. जितनी देर उसकी प्रवृत्ति प्रमाद रूप रहती है, उस समय उसकी प्रमत्त संज्ञा है और वह पाँचों पापों का यावज्जीवन के लिये सर्वथा त्याग कर चुका है, अतः संयम-धारण करने के कारण संयत है. इस प्रकार वह प्रमत्तसंयत कहा जाता है.

(७) **अप्रमत्तसंयत :** जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, साधु की सावधान-दशा का नाम ही सातवाँ गुणस्थान है. जितनी देर आत्म-चिन्तन और उसके मनन में जागरूक रहता है, उतनी देर के लिये ही वह सातवें गुणस्थान में पहुँचता है, और किसी एक प्रमाद रूप परिणति के प्रकट होते ही छठे गुणस्थान में आ जाता है. यद्यपि इन छठे और सातवें गुणस्थान का काल साधारणतः अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है, तथापि छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा है. इसका यह अर्थ है कि साधु आत्म-चिन्तन में संलग्न रह कर जितनी देर अन्तर्मुख रहता है उससे अधिक काल तक वह बहिर्मुख रहता है.

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जिन साधुओं की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने में आती है, जो निरन्तर खान-पान की ही चर्चा करते रहते हैं, विकथाओं में व्यस्त और निद्रा में मस्त रहते हैं, समझ लीजिए कि वे भावलिंगी साधु नहीं हैं. व्याख्यान देते, खान-पान करते और चलते फिरते में भी भावलिंगी साधु सदा सावधान रहेगा और उक्त कार्यों के करते हुए भी बीच-बीच में उसे विचार आता होगा कि—"आत्मन् तुम कहाँ भटक रहे हो ! यह बातचीत, खानपान और गमनागमनादि तो तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं. फिर भी तुम अभी तक इनमें अपना अमूल्य समय व्यतीत कर आत्मस्वरूप से पराङ्मुख हो रहे हो" ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जायगा.

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं चढ़ सकता है, क्योंकि ऊपर चढ़ने के योग्य न तो उत्तम संहननादि आज हैं और न मनुष्यों में उतनी पात्रता ही है. किन्तु जिस काल में सर्व प्रकार की पात्रता और साधन-सामग्री सुलभ होती है, उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है.

सातवें गुणस्थान से लेकर बाहरवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है. परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव के अन्तर्मुहूत काल से अधिक नहीं रह सकती है. इसलिए सातवें, आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सबका सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है, ऐसा जानना चाहिए.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं—१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय-अप्रमत्त. सातवें से छठे में और छठे से सातवें गुणस्थान में आना जाना स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत के होता है. किन्तु जो साधु मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए उद्यत होते हैं, सातिशय अप्रमत्तदशा उन्हीं साधुओं की होती है. उस समय ध्यान अवस्था में ही मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव में प्रकट होते हैं, जिनके द्वारा यह जीव मोहनीय कर्म का उपशनम या क्षपण करने में समर्थ होता है. इनमें से अधःकरण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशयअप्रमत्तसंयत के अर्थात् सातवें गुणस्थान में ही प्रकट होते हैं. इन परिणामों के द्वारा वह संयत मोहकर्म के उपशम या क्षय के लिए उत्साहित होता है.

आगे के गुणस्थानों का स्वरूप जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी. उपशमश्रेणी के ४ गुणस्थान हैं:—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ. क्षपकश्रेणी के भी ४ गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ क्षपकश्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि साधु ही चढ़ सकता है, अन्य नहीं. किन्तु उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं. किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर और अन्तर्मुहूर्त के लिए मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशमन करके वीतरागता का अनुभव करने के पश्चात् भी नियम से नीचे गिरता है. यदि वह संभलना चाहे तो छठे-सातवें गुणस्थान में ठहर जाता है, अन्यथा नीचे के भी गुणस्थानों में जा सकता है. किन्तु जो तद्भवमोक्षगामी और क्षायिक सम्यग्यदृष्टि जीव हैं, वे सातवें गुणस्थान में पहुँच कर फिर भी मोहकर्म की क्षपणा के लिये प्रयत्न करते हैं और आठवें गुणस्थान में पहुँचते हैं. इसलिए आगे दोनों श्रेणियों के गुणस्थानों का स्वरूप एक साथ कहा जायगा.

(८) अपूर्वकरण-संयतगुणस्थान : जब कोई सातिशय अप्रमत्त संयत मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने के लिए अधःकरण परिणामों को करके इस गुणस्थान में प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण में अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं. प्रत्येक समय उसके परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है. इस गुणस्थान के परिणाम इसके पहले कभी नहीं प्राप्त हुए थे, अतः उन्हें अपूर्व कहते हैं. इस गुणस्थान में अनेक जीव यदि एक साथ प्रवेश करें, तो उनमें से एक समयवर्ती कितने ही जीवों के परिणाम तो परस्पर समान होंगे और कितने ही जीवों के परिणाम असमान रहेंगे. परन्तु आगे—आगे के समयों में सभी जीवों के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते हैं, इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है. इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका तैयार करना है. यद्यपि इस गुणस्थान में मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं होता है, तथापि मोहकर्म के स्थिति-खण्डन अनुभाग आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं.

(९) अनिवृत्तिकरण-संयतगुणस्थान : आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त हो, विशिष्ट आत्म-शक्ति का संचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान में प्रवेश करता है. इस गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती जीवों के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर-अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते हैं, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं, उनमें निवृत्ति या विषमता नहीं पाई जाती है, अतः उन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं. इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों के द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभागखण्डन होता है. अभी तक जो करोड़ों सागरों की स्थिति वाले कर्म बंधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम-कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय में पहुँचने पर कर्मों की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तत्प्रमाण स्थिति के कर्मों का बन्ध होने लगता है. कर्मों के सत्व का भी बहुत परिमाण में ह्रास होता है. प्रतिसमय कर्मप्रदेशों की निर्जरा असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है. उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान में मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति को छोड़ कर शेष सर्वप्रकृतियों का उपशमन कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्हीं का क्षय करके दशवें गुणस्थान में प्रवेश करता है. यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है.

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान : इस गुणस्थान में परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोहकर्म की जो एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति शेष रह गई है, वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है. उसे उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है. जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थान के परिणामों द्वारा लोभकषाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है, अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्म-साम्पराय करते हैं. यहाँ साम्पराय का अर्थ लोभ है. इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है.

(११) उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान : दशवें गुणस्थान के अन्तमें सूक्ष्म लोभका उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्तकषायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान में आता है. जिस प्रकार गन्दले-जल में कतक-फल या फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है, उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे कि जीव के परिणामों में एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आजाती है, इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है. किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है, क्योंकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है, अतः वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ ही कहलाता है. मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है, अतः उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और यह नीचे के गुणस्थानों में चला जाता है.

(१२) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान : क्षपक श्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है. इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है. उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का क्षय करता है. मोहकर्म का क्षय तो दशवें गुणस्थान के अन्त में ही हो चुका था. इस प्रकार चारों घातिक कर्मों का क्षय होते ही वह कैवल्यदशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है.

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान : बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का सद्भाव रहने से जीव अल्पज्ञ ही रहता है अतः वहाँ तक के जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है. किन्तु बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है. अर्थात् वह विश्वतत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है, इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं. केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं. योग अभी तक बना हुआ है, अतः इस गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली है. इस गुणस्थान में चार घातिया कर्मों के नाश से अरहन्त भगवान् के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं. ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन, मोहकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्व, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है. कैवल्य की प्राप्ति होने पर समवसरण-विभूति और अष्ट महाप्रतिहार्य भी प्रकट होते हैं. और अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवनपर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं. इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कर्म एक पूर्वकोटी वर्ष है.

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त मात्र समय शेष रह जाता है और केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति के समीकरण के लिए तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है और भगवान् केवलीसमुद्घात करते हैं. प्रथम समयमें चौदह राजुप्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते हैं. दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेश चौड़े हो जाते हैं. तीसरे समय में प्रतर के आकार में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तृत होते हैं और चौथे समय में उनसे आत्मप्रदेश सारे लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं. इसे लोकपूरण-समुद्घात कहते हैं. इसी प्रकार चार समयों में आत्मप्रदेश वापिस संकुचित होते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं. इस केवली-समुद्घात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति भी आयुकर्म के बराबर अन्र्मुहूर्त की रह जाती है. तभी वे चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं.

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान : इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उसके द्वारा उनके योगों का निरोध होता है. योग-निरोध के कारण ही उनको अयोगिकेवली कहा जाता है. इस गुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है, तथापि वह 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरों के बोलने में जितना समय लगता है, तत्प्रमाण ही है. इस गुणस्थान के उपान्त्य या द्विचरम समय में केवली भगवान् अघातिया कर्मों की ७२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं और अन्तिम समय में, यदि वे तीर्थंकर हैं, तो १३ प्रकृतियों का, अन्यथा १२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं और एक क्षण में सर्व कर्मों से विप्रमुक्त होकर अयोगिकेवली भगवान् मुक्त या सिद्ध संज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय में जा विराजते हैं और सदा के लिये आवागमन से विमुक्त हो जाते हैं.

उपसंहार

कर्म-मलीमस यह संसारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदह गुण-स्थान रूप नसैनी पर चढ़ता हुआ लोकान्त में अवस्थित सिद्धालय तक पहुँचता है और संसार के अनन्त दुःखों से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है. प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीवों की बहिरात्मा संज्ञा है. चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं और तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं. इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिये गुणस्थानों पर चढ़कर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिये प्रत्येक तत्त्वज्ञ पुरुष का प्रयत्न होना चाहिए.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org